IMPACT FACTOR 7.50 (SJIAI)

BIHAR SHODH SAMAAGAM

Multidisciplinary, Multi-Lingual, Peer Reviewed /Refereed Open Access Journal
Vol. 4, Issue 3 July-September, 2026
Available online : https://www.biharshodhsamaagam.com/
https://doi.org/10.5281/zenodo.21876756

ISSN : 3048-6971

जलवायु परिवर्तन का कृषि उत्पादकता पर प्रभाव : भारतीय कृषि भूगोल का समकालीन अध्ययन

डॉ. अवधेश कुमार
विभागाध्यक्ष
भूगोल विभाग
कलावती स्नातक महाविद्यालय, रानीगंज, अररिया
(पूर्णिया विश्वविद्यालय, पूर्णिया, बिहार)

सारांश:

भारत एक ऐसा देश है जहाँ कृषि केवल आजीविका का साधन नहीं, बल्कि करोड़ों परिवारों की संस्कृति, परंपरा और अस्तित्व का आधार है। देश की लगभग 43 प्रतिशत कार्यशील जनसंख्या आज भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर निर्भर है और यह क्षेत्र राष्ट्रीय सकल घरेलू उत्पाद में 17 से 18 प्रतिशत का योगदान करता है। परंतु बीते कुछ दशकों में जलवायु परिवर्तन ने इस आधार को गहराई से हिला दिया है। तापमान में अनवरत वृद्धि, मानसून की अनिश्चितता, अतिवृष्टि और दीर्घकालिक सूखे जैसी घटनाएँ अब अपवाद नहीं, बल्कि एक नई और कठोर वास्तविकता बन चुकी हैं। भारतीय कृषि भूगोल के समकालीन परिप्रेक्ष्य में जलवायु परिवर्तन के बहुआयामी प्रभावों का विश्लेषण करता है। इसमें विशेष रूप से तापमान वृद्धि, वर्षा विचलन और चरम मौसमी घटनाओं का प्रमुख फसलों — गेहूँ, धान, दलहन और तिलहन — की उत्पादकता पर पड़ने वाले प्रभावों को रेखांकित किया गया है। साथ ही यह शोध क्षेत्रीय भौगोलिक विभेदन के आलोक में यह समझने का प्रयास करता है कि देश के विभिन्न कृषि-पारिस्थितिकीय क्षेत्र इन परिवर्तनों के प्रति किस प्रकार और किस गति से प्रतिक्रिया दे रहे हैं।

जलवायु परिवर्तन का संकट केवल पर्यावरणीय नहीं, बल्कि गहरे सामाजिक और आर्थिक आयाम भी रखता है। इससे निपटने के लिए एकीकृत, क्षेत्र-विशिष्ट और दीर्घकालिक नीतिगत दृष्टिकोण अपरिहार्य है। तकनीकी नवाचार, जलवायु-सहिष्णु कृषि पद्धतियाँ और किसानों की क्षमता-वृद्धि — ये तीनों मिलकर ही भारतीय कृषि को एक टिकाऊ भविष्य की दिशा में ले जा सकते हैं।

मुख्य शब्द: जलवायु परिवर्तन, कृषि उत्पादकता, तापमान वृद्धि, भारतीय मानसून, खाद्य सुरक्षा, कृषि भूगोल, अनुकूलन रणनीतियाँ।

प्रस्तावना

भारत की धरती और उसके किसान का रिश्ता सदियों पुराना है — एक ऐसा रिश्ता जो केवल उत्पादन और उपभोग तक सीमित नहीं, बल्कि विश्वास, परिश्रम और प्रकृति के साथ सहजीवन पर टिका है। जब हम भारतीय कृषि की बात करते हैं, तो हम दरअसल उस विशाल मानव-समूह की बात कर रहे होते हैं जो इस देश के गाँवों में रहता है, अपनी मेहनत से खेत जोतता है और मौसम के हर उतार-चढ़ाव को अपनी नियति मानकर स्वीकार करता आया है। परंतु आज यही मौसम — जो कभी किसान का सबसे भरोसेमंद साथी था — एक अप्रत्याशित और कठोर चुनौती बन चुका है। जलवायु परिवर्तन कोई भविष्य की समस्या नहीं रह गई है। यह आज, इसी वक्त, भारत के खेतों में घटित हो रही है। पंजाब के गेहूँ के खेतों में असमय गर्मी से पककर गिरते दाने, विदर्भ के कपास किसानों पर मँडराता सूखे का साया, बिहार और असम की बाढ़ में डूबती फसलें — ये सब जलवायु परिवर्तन के मानवीय चेहरे हैं जिन्हें कोई आँकड़ा पूरी तरह बयाँ नहीं कर सकता। वैज्ञानिक साक्ष्य बताते हैं कि पिछले तीन दशकों में भारत के औसत तापमान में प्रति दशक

0.13 से 0.15 डिग्री सेल्सियस की वृद्धि हुई है। यह आँकड़ा भले ही छोटा लगे, किंतु कृषि-पारिस्थितिकी की दृष्टि से यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। मानसून की प्रारंभ तिथि में परिवर्तन, वर्षा की असमान वितरण और लू जैसी घटनाओं की बढ़ती आवृत्ति ने फसल उत्पादन के पारंपरिक ढाँचे को बुरी तरह उलट-पुलट दिया है।

इस का उद्देश्य भारतीय कृषि भूगोल के संदर्भ में जलवायु परिवर्तन के प्रभावों को समग्र और संवेदनशील दृष्टि से समझना है। यह अध्ययन न केवल उत्पादकता के आँकड़ों का विश्लेषण करता है, बल्कि उन लाखों किसान परिवारों की वास्तविकता को भी रेखांकित करता है जो इस संकट को प्रतिदिन जी रहे हैं। साथ ही यह शोध नीति-निर्माताओं, कृषि वैज्ञानिकों और भूगोलविदों के सामने कुछ मूलभूत प्रश्न रखता है — क्या हम समय रहते सही निर्णय ले पाएँगे? क्या हमारी नीतियाँ उस किसान तक पहुँच पाएँगी जो अपने खेत में खड़े होकर बदलते आसमान को असहाय नज़रों से देख रहा है?

जलवायु परिवर्तन का कृषि उत्पादकता पर प्रभाव : भारतीय कृषि भूगोल का समकालीन अध्ययन

भारत एक कृषि प्रधान देश है, जहाँ लगभग 58% जनसंख्या कृषि पर निर्भर है। वर्तमान में जलवायु परिवर्तन भारतीय कृषि के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती बनकर उभरा है। बढ़ता तापमान, अनियमित मानसून, सूखा एवं बाढ़ जैसी अतिवृष्टि घटनाएँ फसल उत्पादकता को गंभीर रूप से प्रभावित कर रही हैं। यह अध्ययन भारतीय कृषि भूगोल के संदर्भ में जलवायु परिवर्तन के समकालीन प्रभावों का विश्लेषण करता है :-

1. तापमान वृद्धि और फसल उत्पादन पर प्रभाव

तापमान और कृषि का संबंध उतना ही पुराना है जितना खेती का इतिहास। प्रत्येक फसल की एक निश्चित तापीय आवश्यकता होती है — एक ऐसी सीमा जिसके भीतर वह अंकुरित होती है, बढ़ती है, फूलती है और दाना भरती है। जब यह सीमा टूटती है, तो फसल केवल उत्पादन नहीं खोती — वह अपनी जैविक लय खो देती है। और यही आज भारतीय कृषि के साथ हो रहा है। वैज्ञानिक अध्ययन यह स्पष्ट करते हैं कि 35 डिग्री सेल्सियस से अधिक तापमान पर गेहूँ की फसल, विशेषकर दाना भरने की अवस्था में, गहरे संकट में पड़ जाती है। यदि समय पर अनुकूलन उपाय न किए जाएँ तो उपज में 20 प्रतिशत तक की कमी आ सकती है। गेहूँ उत्तर भारत का प्राण है — पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश के किसान पीढ़ियों से इसी फसल पर टिके हैं। जब यह फसल असमय पक जाती है, दाने छोटे रह जाते हैं और भूसे का अनुपात बढ़ जाता है, तो नुकसान केवल आर्थिक नहीं होता — किसान का पूरे साल का परिश्रम, उसके परिवार की आस, सब कुछ उस झुलसी फसल के साथ धराशायी हो जाता है।

धान की स्थिति भी कम चिंताजनक नहीं है। रात्रिकालीन तापमान में वृद्धि धान की उत्पादकता के लिए विशेष रूप से हानिकारक है। शोध बताते हैं कि रात का तापमान एक डिग्री बढ़ने पर धान की उपज में औसतन 10 प्रतिशत तक की गिरावट आ सकती है। इसके अतिरिक्त मक्का, दलहन और कपास जैसी फसलें भी दीर्घकालिक ताप-तनाव में अपनी उत्पादकता गँवा रही हैं। फसलों की शीघ्र परिपक्वता — जो सुनने में लाभदायक लग सकती है — वास्तव में दानों के भार, तेल की मात्रा और पोषण-मूल्य को कम कर देती है। अर्थात् मात्रा के साथ-साथ गुणवत्ता भी प्रभावित होती है। भौगोलिक दृष्टि से देखें तो यह संकट एकसमान नहीं है। उत्तर-पश्चिम के मैदानी क्षेत्र जहाँ गेहूँ-धान का चक्र चलता है, वहाँ ताप-तनाव सर्वाधिक है। मध्य और प्रायद्वीपीय भारत में खरीफ फसलें वर्षा की अनिश्चितता और बढ़ते तापमान के दोहरे दबाव में हैं। पहाड़ी कृषि क्षेत्रों में भी परंपरागत फसल-चक्र बाधित हो रहा है। यह क्षेत्रीय विविधता दर्शाती है कि जलवायु परिवर्तन का कोई एकल समाधान नहीं हो सकता — हर क्षेत्र की भौगोलिक, मृदीय और जलवायु विशिष्टता को ध्यान में रखकर ही नीतियाँ बनानी होंगी। सबसे चिंताजनक पहलू यह है कि तापमान वृद्धि की यह प्रक्रिया रुकने का नाम नहीं ले रही। यदि वैश्विक उत्सर्जन इसी गति से जारी रहा तो 2080 के दशक तक भारत जैसे विकासशील देशों में कृषि उत्पादकता में लगभग 20 प्रतिशत तक की गिरावट अनुमानित है। यह केवल एक सांख्यिकीय भविष्यवाणी नहीं है — यह उन लाखों किसान परिवारों के भविष्य की चेतावनी है जिनके पास न पर्याप्त सिंचाई है, न बीमा, और न ही जलवायु-अनुकूल तकनीक तक पहुँच। इसलिए तापमान वृद्धि का यह आयाम केवल कृषि-वैज्ञानिकों का विषय नहीं, बल्कि समाज, प्रशासन और नीति-निर्माण की सामूहिक जिम्मेदारी है।

2. मानसून की अनिश्चितता और वर्षा विचलन

भारत के किसान के लिए मानसून केवल एक मौसमी घटना नहीं है — यह उसकी साल भर की उम्मीद है, उसके परिवार का भविष्य है। सदियों से इस देश के कृषक समाज ने आषाढ़ की पहली बूँद को उत्सव की तरह मनाया है। बादलों की गड़गड़ाहट के साथ खेतों में हल चलाने की परंपरा केवल कृषि-कर्म नहीं, बल्कि एक गहरी सांस्कृतिक आस्था है। परंतु आज यही मानसून अपनी स्वाभाविक लय खो चुका है और इसकी अनिश्चितता भारतीय कृषि के लिए सबसे बड़े संकटों में से एक बन गई है। भारत की 65 प्रतिशत से अधिक कृषि भूमि आज भी वर्षा पर निर्भर है। सुनिश्चित सिंचाई की सुविधा देश के अधिकांश किसानों तक अभी भी नहीं पहुँची है। ऐसे में जब मानसून का आगमन विलंबित होता है, तो बुवाई का समय चूक जाता है। जब वह समय से पहले आता है, तो खेत तैयार नहीं होते। और जब असमान रूप से बरसता है — कहीं बाढ़, कहीं सूखा — तो नुकसान दोनों छोरों पर होता है। यह अनिश्चितता किसान को मानसिक रूप से भी तोड़ती है, क्योंकि वह जानता है कि उसकी मेहनत का फल अब केवल उसके हाथ में नहीं रहा। वैज्ञानिक अध्ययनों से स्पष्ट हो चुका है कि मानसून की तीव्रता में वृद्धि हुई है, परंतु वर्षा के दिनों की संख्या घट रही है। अर्थात् कम समय में अधिक वर्षा हो रही है, जिससे जल-संग्रहण कम और जल-प्रवाह अधिक होता है। इससे मृदा अपरदन बढ़ता है, खड़ी फसलें नष्ट होती हैं और भूजल पुनर्भरण भी प्रभावित होता है। वर्ष 2024 का मानसून इसका जीवंत उदाहरण रहा — अत्यधिक वर्षा ने एक ओर सूखे से राहत दी, तो दूसरी ओर खरीफ फसलों को गहरी क्षति पहुँचाई और खाद्य मुद्रास्फीति को बढ़ावा दिया।

क्षेत्रीय विश्लेषण बताता है कि राजस्थान और गुजरात में सूखे की आवृत्ति बढ़ रही है, जबकि उत्तर-पूर्व और तटीय क्षेत्रों में अतिवृष्टि की घटनाएँ सामान्य हो चली हैं। मध्य भारत के वर्षा-छाया क्षेत्रों में खरीफ सीजन पर सबसे प्रतिकूल असर पड़ रहा है। यह असंतुलन न केवल उत्पादकता को प्रभावित कर रहा है, बल्कि किसानों की जोखिम-वहन क्षमता को भी तेजी से क्षीण कर रहा है। मानसून की अनिश्चितता को नियंत्रित करना मनुष्य के वश में नहीं, किंतु उसके अनुकूल नीतियाँ और तैयारी अवश्य हमारे हाथ में है।

3. क्षेत्रीय विभेदन एवं भौगोलिक संवेदनशीलता

भारत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह एक देश होते हुए भी अनेक भूगोलों का समुच्चय है। यहाँ हिमालय की ठंडी घाटियाँ भी हैं और थार की तपती रेत भी। केरल की अतिवृष्टि भी है और बुंदेलखंड की जलविहीन धरती भी। यही भौगोलिक विविधता भारतीय कृषि की शक्ति रही है — परंतु जलवायु परिवर्तन के संदर्भ में यही विविधता इसकी सबसे बड़ी जटिलता भी बन गई है। क्योंकि जब जलवायु बदलती है, तो वह हर क्षेत्र को अलग-अलग तरीके से प्रभावित करती है। उत्तर भारत के विशाल मैदानी क्षेत्र — पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश — जो देश की अनाज की टोकरी कहलाते हैं, वहाँ बढ़ता तापमान और घटता भूजल एक साथ संकट उत्पन्न कर रहे हैं। गेहूँ-धान के परंपरागत चक्र पर दबाव इतना बढ़ गया है कि मृदा स्वास्थ्य और जल-उपलब्धता दोनों खतरे में हैं। यहाँ जलवायु परिवर्तन ने पहले से मौजूद कृषि-संकट को और गहरा किया है।

मध्य भारत — मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, विदर्भ और तेलंगाना का भाग — वर्षा की अनिश्चितता से सर्वाधिक त्रस्त है। यहाँ सोयाबीन, कपास और ज्वार जैसी फसलें हैं जो मानसून की समयबद्धता पर पूरी तरह निर्भर हैं। इन्हीं क्षेत्रों में किसान आत्महत्या की दर सर्वाधिक रही है — जो इस बात का मार्मिक प्रमाण है कि भौगोलिक संवेदनशीलता और सामाजिक-आर्थिक भेद्यता मिलकर कितना विनाशकारी प्रभाव उत्पन्न करते हैं। पूर्वोत्तर भारत और बिहार-बंगाल के निचले मैदान बाढ़ की पुनरावृत्ति से जूझ रहे हैं। असम में ब्रह्मपुत्र का बाढ़-चक्र अब अधिक अनिश्चित और विनाशकारी हो गया है। तटीय क्षेत्रों में समुद्र स्तर की वृद्धि से खारेपन का विस्तार हो रहा है, जिससे धान की खेती प्रभावित हो रही है। राजस्थान और गुजरात के शुष्क क्षेत्र मरुस्थलीकरण की बढ़ती सीमा से संघर्ष कर रहे हैं।

यह क्षेत्रीय विभेदन नीति-निर्माताओं को एक महत्वपूर्ण संदेश देता है — जलवायु अनुकूलन की कोई एक राष्ट्रीय नीति पर्याप्त नहीं होगी। हर कृषि-पारिस्थितिकीय क्षेत्र के लिए उसकी भौगोलिक वास्तविकता, जल-उपलब्धता, मृदा प्रकार और फसल-

चक्र को ध्यान में रखकर विशिष्ट कार्य-योजना बनानी होगी। भूगोल की इस विविधता को समझना ही भारतीय कृषि को जलवायु-सहिष्णु बनाने की पहली शर्त है।

4. आर्थिक एवं सामाजिक परिणाम

जब कोई फसल खेत में नष्ट होती है, तो उसका दर्द केवल उस किसान तक सीमित नहीं रहता जो उसे बोता है। उस नुकसान की परछाईं उसके बच्चों की शिक्षा पर पड़ती है, उसकी पत्नी के गहने बिकते हैं, बैंक का कर्ज बढ़ता है और कभी-कभी वह इंसान इतना टूट जाता है कि जीने की उम्मीद भी छोड़ देता है। जलवायु परिवर्तन के आर्थिक और सामाजिक परिणाम केवल GDP के आँकड़ों में नहीं मापे जा सकते — इन्हें उन चेहरों पर पढ़ना होगा जो हर मौसम के बाद थोड़े और उदास हो जाते हैं। आँकड़ों की भाषा में देखें तो वर्ष 2018-19 में चरम मौसमी घटनाओं के कारण भारत में फसल क्षति भारत के GDP के 0.25 प्रतिशत के बराबर थी। यह राशि अरबों रुपये में है, परंतु इससे भी बड़ी बात यह है कि इस नुकसान का सर्वाधिक बोझ उन लघु और सीमांत किसानों पर पड़ा जिनके पास न पर्याप्त भूमि है, न सिंचाई सुविधा और न ही कोई वित्तीय सुरक्षा जाल। एक बड़े कृषक के लिए एक खराब फसल का मतलब नुकसान है — एक छोटे किसान के लिए उसका मतलब तबाही है।

सामाजिक दृष्टि से देखें तो जलवायु-प्रेरित कृषि-संकट ने ग्रामीण पलायन को तेज किया है। जब खेती से आजीविका सुनिश्चित न हो, तो युवा पीढ़ी शहरों की ओर पलायन करती है। इससे गाँवों में कुशल कृषि-श्रम की कमी होती है, कृषि भूमि परती पड़ने लगती है और पारिवारिक ढाँचा टूटता है। महिलाओं पर दबाव विशेष रूप से बढ़ता है — जब पुरुष शहर जाते हैं तो खेती का बोझ उन पर आ जाता है, जबकि उनके पास संसाधन और निर्णय-शक्ति दोनों सीमित होते हैं। कृषि-ऋण का संकट भी जलवायु परिवर्तन से गहराई से जुड़ा है। जब उपज कम होती है और कीमतें अनिश्चित होती हैं, तो किसान अगली फसल के लिए नया कर्ज लेता है। यह कर्ज का चक्र धीरे-धीरे इतना बड़ा हो जाता है कि किसान उससे निकल नहीं पाता। खाद्य सुरक्षा पर भी प्रभाव पड़ता है — उत्पादकता में गिरावट से खाद्यान्न की उपलब्धता घटती है और मूल्य वृद्धि सबसे पहले उन गरीब परिवारों को प्रभावित करती है जो अपनी आय का बड़ा हिस्सा भोजन पर खर्च करते हैं। इस प्रकार जलवायु परिवर्तन असमानता को और गहरा करता है — जो पहले से कमजोर हैं, वे और कमजोर होते जाते हैं।

5. अनुकूलन रणनीतियाँ एवं नीति-निर्देश

उपरोक्त चुनौतियों से निपटने के लिए बहुस्तरीय हस्तक्षेप आवश्यक है:

- **तकनीकी स्तर पर:**

जलवायु परिवर्तन के विरुद्ध कृषि को सुरक्षित करने में प्रौद्योगिकी की भूमिका केंद्रीय और अपरिहार्य है। आज जब मानसून की अनिश्चितता, तापमान वृद्धि और अनियमित वर्षा-चक्र किसानों के सामने खड़े हैं, तब तकनीकी नवाचार ही वह सेतु है जो पारंपरिक कृषि को एक लचीली और टिकाऊ व्यवस्था में बदल सकता है। सर्वप्रथम, जलवायु-सहिष्णु बीज किस्मों का विकास और व्यापक प्रसार आवश्यक है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद (ICAR) एवं विभिन्न राज्य कृषि विश्वविद्यालयों द्वारा विकसित सूखा-प्रतिरोधी धान की किस्में जैसे सहभागी और DRR Dhan 42, अथवा गर्मी-सहिष्णु गेहूँ की किस्में जैसे HD-3385, वास्तविक क्षेत्रीय परिस्थितियों में उल्लेखनीय परिणाम दे रही हैं। इन किस्मों को लघु और सीमांत किसानों तक पहुँचाने के लिए बीज वितरण तंत्र को विकेंद्रीकृत करना होगा। सटीक कृषि (Precision Agriculture) और डिजिटल प्रौद्योगिकी का एकीकरण भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। ड्रोन-आधारित फसल निगरानी, उपग्रह-चित्रण द्वारा मृदा स्वास्थ्य विश्लेषण, और मौसम-पूर्वानुमान आधारित सिंचाई प्रबंधन न केवल जल का संरक्षण करते हैं, बल्कि उर्वरक एवं कीटनाशकों के अनावश्यक उपयोग को भी सीमित करते हैं। इससे उत्पादन लागत घटती है और पर्यावरणीय बोझ भी कम होता है।

जल-प्रबंधन तकनीकें, विशेषकर सूक्ष्म सिंचाई प्रणालियाँ जैसे ड्रिप और स्प्रिंकलर सिंचाई, जल-उपयोग दक्षता में 40 से 60 प्रतिशत तक सुधार कर सकती हैं। महाराष्ट्र और राजस्थान में इनके सफल प्रयोगों ने यह सिद्ध किया है कि सीमित जल संसाधनों के बावजूद उत्पादकता बनाए रखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त, कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) और बिग डेटा पर आधारित

कृषि सलाह सेवाएँ किसानों को बुवाई, सिंचाई और कटाई के सही समय का निर्धारण करने में सहायता कर सकती हैं। Kisan Suvidha ऐप और Meghdoot जैसे प्लेटफॉर्म इस दिशा में प्रारंभिक किंतु सार्थक कदम हैं। आवश्यकता यह है कि इन्हें स्थानीय भाषाओं में, ग्रामीण नेटवर्क कनेक्टिविटी के अनुकूल बनाकर और अधिक सुलभ और व्यापक बनाया जाए, ताकि प्रौद्योगिकी का लाभ वास्तव में अंतिम पंक्ति के किसान तक पहुँच सके।

- **नीति स्तर पर:**

तकनीकी समाधान तभी प्रभावी होते हैं जब उनके पीछे सुदृढ़ नीतिगत ढाँचा हो। भारत में कृषि-नीति निर्माण ऐतिहासिक रूप से उत्पादन-केंद्रित रही है, किंतु जलवायु संकट के इस युग में इसे लचीलापन-केंद्रित (Resilience-Oriented) बनाना अनिवार्य हो गया है। सबसे पहले, फसल बीमा योजनाओं को वास्तविक अर्थों में प्रभावी बनाने की आवश्यकता है। प्रधानमंत्री फसल बीमा योजना (PMFBY) की संकल्पना सराहनीय है, किंतु दावा निपटान में विलंब, मूल्यांकन प्रक्रिया की जटिलता और तकनीकी पहुँच की कमी इसे अनेक किसानों के लिए अव्यावहारिक बना देती है। सूचकांक-आधारित बीमा (Index-Based Insurance) मॉडल अपनाकर, जिसमें वर्षा या तापमान के मापे गए आंकड़ों के आधार पर स्वचालित भुगतान हो, इस प्रक्रिया को पारदर्शी और शीघ्र बनाया जा सकता है। न्यूनतम समर्थन मूल्य (MSP) की संरचना को जलवायु-संवेदनशील बनाया जाना चाहिए। जब किसी क्षेत्र में जलवायु-आपदा के कारण उत्पादन लागत बढ़ जाती है, तो MSP में तदनुसार समायोजन होना चाहिए। साथ ही, विविध फसलों को MSP के दायरे में लाना भी आवश्यक है ताकि किसान जलवायु अनुकूल फसल-चक्र अपनाने के लिए आर्थिक रूप से प्रोत्साहित हों।
जलवायु-अनुकूल कृषि पद्धतियों को अपनाने वाले किसानों के लिए प्रत्यक्ष प्रोत्साहन जैसे सब्सिडी, कर लाभ और हरित साख (Green Credit) की व्यवस्था की जानी चाहिए। कर्नाटक और आंध्र प्रदेश में प्राकृतिक खेती को बढ़ावा देने के राज्य-स्तरीय प्रयास इस दिशा में मार्गदर्शक उदाहरण हैं। राष्ट्रीय कृषि नीति को राष्ट्रीय जलवायु कार्य योजना (NAPCC) के साथ संरेखित करना भी आवश्यक है। वर्तमान में ये दोनों नीति-धाराएँ प्रायः समानांतर चलती हैं। इनके एकीकरण से न केवल संसाधनों का बेहतर उपयोग होगा, बल्कि किसानों को भी एक सुसंगत और स्पष्ट नीतिगत दिशा मिलेगी जो उन्हें दीर्घकालिक निर्णय लेने में सहायक हो।

- **भूगोल-आधारित नियोजन:**

भारत की कृषि-भौगोलिक विविधता इतनी गहरी है कि कोई एक समाधान सर्वत्र लागू नहीं हो सकता। हिमालयी घाटियों की कृषि चुनौतियाँ थार मरुस्थल की चुनौतियों से मौलिक रूप से भिन्न हैं, और पश्चिमी घाट की वर्षावन कृषि गंगा के मैदानों की जलोढ़ कृषि से। इसीलिए भूगोल-आधारित नियोजन (Geography-Based Planning) न केवल तर्कसंगत है, बल्कि आवश्यक भी है। कृषि-जलवायु क्षेत्रों (Agro-Climatic Zones) के आधार पर क्षेत्र-विशिष्ट योजनाएँ तैयार करना इस दृष्टिकोण का केंद्रीय तत्त्व है। भारत को 15 कृषि-जलवायु क्षेत्रों में विभाजित किया गया है, परंतु नीतिगत कार्यान्वयन में प्रायः इस विभाजन की उपेक्षा होती है। प्रत्येक क्षेत्र के लिए उसकी मृदा प्रकृति, जल उपलब्धता, वर्षा पैटर्न और प्रमुख फसलों को ध्यान में रखकर अनुकूलन रोडमैप बनाया जाना चाहिए। नदी बेसिन-आधारित जल नियोजन इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। कृष्णा, गोदावरी, ब्रह्मपुत्र और सिंधु जैसी नदी प्रणालियों में बदलते जल-प्रवाह के अनुसार सिंचाई-नियोजन और फसल-चयन को अनुकूलित करना होगा। इसके लिए अंतर-राज्यीय समन्वय और केंद्रीय जल आयोग की सक्रिय भूमिका आवश्यक है।

भूमि उपयोग मानचित्रण (Land Use Mapping) को नियमित रूप से अद्यतन करना और उसके आधार पर यह निर्धारित करना कि कौन सी भूमि किस फसल के लिए भविष्य में उपयुक्त होगी, दीर्घकालिक खाद्य सुरक्षा की दृष्टि से अत्यावश्यक है। GIS तकनीक और रिमोट सेंसिंग इस कार्य को व्यावहारिक और सटीक बना सकते हैं। अंततः, स्थानीय पारंपरिक ज्ञान को आधुनिक भूगोल-आधारित नियोजन के साथ एकीकृत करना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। राजस्थान की खादिन प्रणाली, केरल के पझयिडम, और बिहार की आहर-पाइन जैसी परंपरागत जल-प्रबंधन विधियाँ स्थानीय भूगोल की गहरी समझ पर आधारित हैं और इन्हें समकालीन नियोजन में पुनर्जीवित करने की आवश्यकता है।

निष्कर्ष

जलवायु परिवर्तन और कृषि उत्पादकता का संबंध आज केवल एक अकादमिक विमर्श का विषय नहीं रहा, यह भारत के लगभग 60 करोड़ कृषि-आश्रित लोगों के जीवन और जीविका से जुड़ा एक अस्तित्वगत प्रश्न बन चुका है। इस अध्ययन के माध्यम से यह स्पष्ट हुआ है कि जलवायु परिवर्तन भारतीय कृषि को किस बहुआयामी और जटिल रूप से प्रभावित कर रहा है, और इससे निपटने के लिए खंडित और अल्पकालिक उपाय पर्याप्त नहीं हैं। तापमान वृद्धि से फसल-चक्र का विघटन हो रहा है, अनियमित मानसून से जल-सुरक्षा खतरे में है, समुद्र-स्तर वृद्धि से तटीय कृषि-भूमि सिकुड़ रही है, और मृदा स्वास्थ्य पर पड़ रहे दबाव से दीर्घकालिक उत्पादकता की नींव कमज़ोर हो रही है। ये सब अलग-अलग समस्याएँ नहीं हैं, बल्कि एक ही संकट के परस्पर जुड़े हुए आयाम हैं।

इस संकट का समाधान उतना ही बहुस्तरीय और संकलित होना चाहिए। तकनीकी नवाचार, सुदृढ़ नीतिगत ढाँचा, भूगोल-आधारित नियोजन और स्थानीय समुदायों की सक्रिय भागीदारी — ये चारों स्तंभ एकसाथ खड़े होने पर ही एक टिकाऊ और न्यायसंगत कृषि-भविष्य संभव है। कोई भी एकल हस्तक्षेप, चाहे वह कितना भी प्रभावशाली क्यों न हो, इस जटिल समस्या का स्थायी समाधान नहीं दे सकता। भारत के संदर्भ में यह और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि यहाँ कृषि केवल एक आर्थिक गतिविधि नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक पहचान और सामाजिक व्यवस्था की आधारशिला है। जब एक किसान की फसल नष्ट होती है, तो केवल उसकी आय नहीं जाती — उसके परिवार का भविष्य, उसके बच्चों की शिक्षा, उसका सामाजिक सम्मान, सब कुछ एक साथ हिल जाता है। इस मानवीय आयाम को नीति-निर्माण के केंद्र में रखना सबसे पहली और सबसे आवश्यक शर्त है।

अंत में, भारतीय कृषि भूगोल का यह समकालीन अध्ययन इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अनुकूलन और शमन दोनों को एकसाथ साधना होगा। जलवायु परिवर्तन को धीमा करने के वैश्विक प्रयासों में भारत की भागीदारी आवश्यक है, किंतु साथ ही हमें अपनी कृषि को उन परिवर्तनों के लिए भी तैयार करना होगा जो अपरिहार्य हो चुके हैं। यह तैयारी एक चुनौती है, किंतु इसमें अवसर भी निहित है कि भारत एक ऐसी कृषि-व्यवस्था विकसित करे जो न केवल जलवायु के प्रति लचीली हो, बल्कि पर्यावरण के साथ सामंजस्य बनाते हुए आने वाली पीढ़ियों को भी समृद्ध और सुरक्षित भविष्य दे सके।

संदर्भ-सूची

1. हुसैन, माजिद, (2000), *कृषि भूगोल*, रावत पब्लिकेशन्स।
2. हुसैन, माजिद, (2008), *भौतिक भूगोल*. रावत पब्लिकेशन्स।
3. हुसैन, माजिद, (2020), *भारत का भूगोल* (9वाँ संस्करण), मैकग्रॉ हिल एजुकेशन।
4. हुसैन, माजिद, (2015), *मानव भूगोल* (4था संस्करण),रावत पब्लिकेशन्स।
5. चव्हाण, उधव एकनाथ, (2021), *कृषि भूगोल*, चंद्रलोक प्रकाशन।
6. भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, (2018), *भारतीय कृषि की पुस्तिका* (6वाँ संस्करण), आईसीएआर प्रकाशन।
7. रंधावा, मोहिंदर सिंह, (1986), *भारतीय कृषि का इतिहास* (खंड 1–4), भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद।
8. मिश्र, राम प्रताप, एवं त्रिपाठी, राम शंकर, (2010), *भारत का भूगोल: समग्र अध्ययन*, वसुंधरा प्रकाशन।
9. सिंह, सविंद्र, (2012), *पर्यावरण भूगोल*, प्रयाग पुस्तक भवन।
10. सिंह, राम बहादुर, एवं सिंह, सुरेश, (2016), *जलवायु परिवर्तन एवं भारतीय पर्यावरण*, राष्ट्रीय पुस्तक ट्रस्ट।
11. शर्मा, हरि शंकर, एवं शर्मा, महेश, (2014), *भारत में भूमि उपयोग एवं कृषि विकास*, रावत पब्लिकेशन्स।
12. गौतम, अलका, (2019), *कृषि भूगोल*, शारदा पुस्तक भवन।
13. राष्ट्रीय पुस्तक ट्रस्ट, (2017), *जलवायु परिवर्तन: भारतीय परिप्रेक्ष्य*, राष्ट्रीय पुस्तक ट्रस्ट।
14. सिंह, जसवंत, (2013)., *भारतीय मृदा विज्ञान एवं भूमि संरक्षण*, कल्याणी पब्लिशर्स।
15. पाण्डेय, बद्री राम, एवं द्विवेदी, अनिल, (2018), *भारत में जल संसाधन एवं सिंचाई प्रबंधन*, विश्वविद्यालय प्रकाशन।